IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

हिन्दी उपन्यासों में निहित आदिवासी जीवन

शिखा सिंह

कनिष्ठ शोध अध्येता

हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारत विविधताओं का देश है, जहाँ विविध धर्म, जाति, संस्कृति के लोग निवास करते हैं। आज भारत जैसे देश में बहुत से जाति, जनजाति का जन्म हो चुका है, जिन्हें संवैधानिक दर्जा प्राप्त होते हुए भी उनकी स्थिति दयनीय है, जिनमें से आदिवासी जनजाति एक है। आदिवासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है आदि+वासी आदि का अर्थ 'मूल' और 'वासी' का अर्थ 'निवासी' से है। अतः आदिवासी शब्द से तात्पर्य धरती के मूल निवासी से जो सभ्य जगत से दूर पर्वतों और जंगलों में निवास करते हैं। इस तरह आदिवासी शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ – आदिकाल से देश में रहने वाली जाति। जो सदियों से सभ्यता और संस्कृति से दूर होने के कारण पिछड़े हुए है।

वर्तमान समय में आदिवासी समुदाय विकट संकटों के बीच अपने अस्तित्त्व को तलाश रहा है। जिसमें जल, जंगल और जमीन उनकी सबसे बड़ी समस्या है। वैज्ञानिकता के इस युग में औद्योगिकरण ने आदिवासी उपस्थिति को गौण बना दिया है। जिससे उनकी संवेदनाएँ और भावनाएँ कुण्ठा का शिकार हो रही है। आदिवासी समुदाय वर्तमान समय में राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में अनेक समस्याओं और असमानताओं से जूझ रहा है। विकास के नाम पर सरकार द्वारा विविध योजनाओं और घोषणाओं के बावजूद भी इन्हें इसका पूर्ण लाभ नहीं मिल पा रहा, जिसके कारण ये अपनी मूलभूत आवश्यकताओं से कोशों दूर है। आज भी आदिवासी समुदाय वनों में जीवन–यापन करते हुए अपनी संस्कृति की विरासत कायम रखी है तथा आत्मसम्मान से जीवन जीने के लिए पूर्णरूप से संघर्षरत है। जिससे इनके अस्तित्त्व को पहचान मिल सके। यही आदिवासी विमर्श की सार्थकता होगी। इस सन्दर्भ में **रमणिका गुप्ता** कहती है –

"एक पराजित समूह होते हुए भी आदिवासियों ने अपनी संस्कृति, भाषा, अपने जीने की सामूहिक शैली, परम्पराओं और रीति–रिवाजों की विरासत को जिंदा रखा है।"[1]

भारत में आदिवासियों को अनेक नाम से सम्बोधित किया जाता है जिनमें वनवासी, अत्विका, वन्यजाति, गिरिजन, आदिम निवासी और आदिमजाति आदि प्रमुख है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में अनुसूचित जनजातियों की कुल संख्या 8.6 करोड़ स्वीकारा गया है। आदिवासियों को भारतीय संविधान में अनुसूचित जनजातियों के नाम से सम्बोधित किया गया है। भारत जैसे विकासशील देश में विकास की नीति का लक्ष्य सभी को समान अधिकार और सुरक्षा प्राप्ति होना चाहिए लेकिन राष्ट्रहित के नाम पर आदिवासियों को छला गया, जिससे वे अपनी जगह–जमीन से विस्थापित हो गए। इस प्रकार संविधान द्वारा प्रदत्त इनके मूल अधिकारों का भी उल्लंघन किया गया। इसी कारण आदिवासी विमर्श पर हिन्दी साहित्य ने अपनी दृष्टि डाली।

हिन्दी साहित्य में आदिवासी समाज को आधार बनाकर अनेक उपन्यासों की रचना की गई। जिसमें आदिवासी समुदाय का चित्रण किया गया है। हिन्दी उपन्यासकारों का आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य आदिवासियों के समग्र पहलुओं का सूक्ष्मता एवं गहनता से अंकन करना है। जिससे आदिवासी समुदाय को पहचान व यथोचित सम्मान की प्राप्ति हो सके।

राष्ट्रीय विकास की तथाकथित परियोजनाओं के नाम पर साम–दाम–दण्ड–भेद से उनकी जमीन–जंगल–पहाड़ छिने जा रहे हैं। आज भी जमीन मुद्दे को लेकर पूरे देश में आदिवासी आंदोलनरत हैं। आधुनिकता के इस दौर में जिस प्रकार पूंजीपति वर्ग केवल अपने हित को साधने के लिए जंगलों का अंधाधूध कटाई कर रहा है। इससे आदिवासियों को अपनी जल, जंगल, जमीन से बेदखल होना पड़ रहा है। उनके हित में बोलने वाला कोई नहीं नजर आता। पुलिस प्रशासन भी इनके साथ खड़ा होता नहीं दिखाई पड़ता। इसी तथ्य को आधार बनाकर **रणेन्द्र** का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव का देवता' में आदिवासियों के अनवरत जीवन संघर्ष का यथार्थ दस्तावेज प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में हम देखते हैं कि देवराज इन्द्र से लेकर ग्लोबल गाँव के व्यापारियों तक फैली शोषण प्रक्रिया को रणेन्द्र ने बखूबी उजागर किया है। जो इनके आंतरिक छुपे हुए पहलुओं को सामने लाता है। औद्योगिकरण के कारण यह उपन्यास छत्तीसगढ़, मणिपुर, केरल, महाराष्ट्र व मध्यप्रदेश के आदिवासियों के संघर्षपूर्ण जीवन को रेखांकित करता हुआ प्रतीत होता है –

"छत्तीसगढ़ के रायजिले से होकर बहने वाली एक बड़ी नदी शिवनाथ एक औद्योगिक समूह को बेच दी गई। उसका निजीकरण हो गया। कुछ गाँव के लोग मवेशी, चुनमुन, खेत–बधार सब पानी के समस्या से जूझ रहे थे। बोन्दा टीकरगांव के लोग राजधानी में जाकर अनशन पर बैठे, नतीजतन ठीक गणतंत्र दिवस के दिन सत्यभामा, शऊरा की भूख से मौत हो गई।"[2]

भारत सरकार अपनी उदारवादी नीति के कारण भारत को विश्व बाजार का असहाय अंग बनाने में जुटी है। डब्लयू.टी.ओ. के प्रस्ताव को स्वीकार करके कृषि–क्षेत्र व प्रकृति संसाधनों को क्षत–विक्षत कर रही है। भूमण्डलीकरण के नाम पर जिस प्रकार आदिवासी वर्ग का शोषण हो रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सरकार के साथ मिलकर इस वर्ग की प्राकृतिक सम्पदा व जमीन पर अपना कब्जा कर रही है तथा अपने उत्पादन को बढ़ावा दे रही है। यदि यह वर्ग अपने विरूद्ध हो रहे अत्याचार के प्रति आवाज उठाने की कोशिश करता भी है तो इसे माओवादी या नक्शलवादी की संज्ञा दे दी जाती है तथा झूठे आरोप लगाकर इनपर कानूनी कार्यवाही कर दी जाती है। ताकि ये अपने आवाज को न उठा सके।

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में उपन्यासकार ने शिवदास बाबा के माध्यम से बताया है कि किस प्रकार बाबा अपने धार्मिक पाखण्डों से भोली–भाली असुर जनसमुदाय को उल्लू बना रहा है –

''शिवदास बाबा और विधायक जी का यह सोचना सही था कि वेदांग जैसे बड़ी कम्पनी उस इलाके में केवल कटीले तार की बाड़ बन्दी करने नहीं आयी है। उसे अपने फैक्ट्री के लिए कोयला बीधा अंचल में कई सौ एकड़ जमीन चाहिए।''[3]

उपन्यासकार रणेन्द्र की यह मान्यता है कि जब तक आदिवासी अपने प्रति हो रहे अन्याय का विरोध नहीं करेंगे तब तक शोषण जारी रहेगा। इस सन्दर्भ से यह सिद्ध होता है कि 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में देवराज इन्द्र से लेकर ग्लोबल गाँव के देवता, नेता, व्यापारियों और बाबाओं द्वारा आदिवासियों के शोषण की कथा व्यक्त हुई है।

इसी क्रम में लखिका शरद सिंह ने आदिवासी बेड़िया समाज को केन्द्र में रखकर 'पिछले पन्ने की औरत' नामक उपन्यास लिखी है। यह उपन्यास अपने नाम की सार्थकता को प्रस्तुत करता हुआ दिखाई पड़ता है। इसमें बेड़िया समाज की औरतों को केन्द्र में रखकर उनके विवशतापूर्ण जीवन को उकेरा गया है। यह उपन्यास तीन भागों में लिखा गया है। भाग एक 'अतीत की सुनहरी काली छाया', भाग दो 'आहत होने की अर्थ की तलाश' और भाग तीन को 'राई के नीचे बनी औरतें' शीर्षक दिया गया है। स्वयं लेखिका शीर्षक की सार्थकता को सिद्ध करते हुए लिखती है कि –

''एक स्त्री रखैल का जीवन पिछले पन्ने पर दर्ज उस औरत के समान होता है जो पुरूष के जीवन की डायरी में लिखी रहती है, किन्तु उसका अस्तित्व उस खुले हुए पन्ने के पीछे दबा रहता है जिसका नाम है पत्नी।''[4]

वर्तमान में यदि हम ध्यानपूर्वक इस वर्ग की ओर दृष्टि डाले तो आदिवासी समाज विकास के नाम पर कटा हुआ है, सन्दर्भहीन है। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में आदिवासी विकलांग स्थिति में जीवन–यापन कर रहा है। झारखण्ड के पलामू क्षेत्र, बिहार के कैमूर, उड़ीसा के सुन्दरगढ़ के आदिवासी भूखमरी के शिकार है।

संजीव कृत उपन्यास 'जंगल जहाँ शुरू होता है' आदिवासी समुदाय पर आधारित एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में भारत–नेपाल सीमा पर स्थित घने वनों में रहने वाले 'थारू' आदिवासियों का वर्णन किया गया है। अंग्रेजों की गुलामी को न स्वीकार करने के कारण अंग्रजों ने इन्हें चोर, डाकू आदि की संज्ञा दे दिया था। इस उपन्यास में एक ईमानदार पुलिस अधिकारी, 'कुमार' का सामना इन थारू आदिवासियों से होता है तो उन्हें इनके अनैतिक कामों का पता चलता है। ईमानदारी के साथ 'कुमार' डाकुओं को पकड़ना चाहता है, किन्तु भ्रष्ट शासन प्रणाली में उसे अपमान का सामना करना पड़ता है। मजबूरी के चलते आम इन्सान भी डाकू बन जाते है जिसे हम इस उपन्यास के पात्र 'काली' व 'परशुराम' के माध्यम से देख सकते हैं। ये महिलाओं को बेचने का काम करते–करते हथियार तक बेचने लगते हैं। लेकिन इन सभी के पीछे जो प्रमुख कारण उभर कर आता है वह है शिक्षा। यदि इन्हें शिक्षा का औजार मिल जाए तो ये वर्ग भी अपने आप को एक उच्च पद पर आसीन कर सकते है तथा सम्मानपूर्वक जीवनयापन कर सकते हैं।

इस उपन्यास में पुलिस प्रशासन के व्यवस्था पर भी करारा प्रहार किया गया है। किस प्रकार पुलिस प्रशासन थारू आदिवासियों को मार–मारकर उन्हें डाकू बना देता है। तथा विद्रोही बताकर उनका एनकाउण्टर करवा देता है। पुलिस प्रशासन के प्रति जो 'काली' के मन में गुस्सा भरा है वो 'कुमार' से इस प्रकार व्यक्त करता है –

''अव्वल तो मुकदमा चलेगा ही नहीं, एनकाउण्टर के नाम पर मारकर फोटो खींचवाने का शौक हो तो अलग बात है। दूजे मुकदमा और सजा के बाद मेरी जाति नहीं बदली जाएगी, हालात नहीं बदल जायेंगे। मैं फिर उसी दल–दल में सड़ूँगा।''[5]

अशिक्षा के कारण आज ये लोग पिछड़ रहे है। इस उपन्यास में हमें महिलाओं के मार्मिक दशा का वर्णन देखने को मिलता है। सबसे बड़ी विडम्बना इस उपन्यास में हमें यह लगाता है कि एक औरत ही दूसरे औरत के शोषण के लिए जिम्मेदार होती है। ये महिलाएँ अपनी वेशभूषा बदलकर या चूड़ीहारिन बनकर गाँव में जाती है और औरतों को बहला–फुसलाकर ले आती है और उसे बेच देती है। इस स्थिति का वर्णन हम इस कथन के माध्यम से देख सकते हैं–

''दहेज की मार है।'' उससे मेल–जोल बढ़ाकर उसके मन को परिवार से अलगाते रहो, मौका पाते ही निकाल ले आओ। वैसे भी घर से भागी, निकाली गई या चूसकर छोड़ी गई औरतों की कमी है क्या ?''[6]

सरकार द्वारा आदिवासियों के हित में सरकारी योजनाओं के बारे में बताया तो जाता है, परन्तु उसका क्रियान्वयन पूर्ण रूप से नहीं हो पा रहा। इनके लिए जो भी राशि आवंटित की जाती है, उसका कुछ प्रतिशत भाग ही इन आदिवासियों तक पहुँच पा रहा है। कई योजनाएँ तो कागज तक ही सीमित होकर रह जाती है। फर्जी आँकड़ों से ही योजनाएँ क्रियान्वित होती रहती है। इसलिए आज आदिवासियों को शिक्षित होने की जरूरत है ताकि सरकार इनके लिए क्या–क्या योजनाएँ ला रही है इससे अवगत होकर लाभ उठा सके। सन् 2018 ई0 में भारत सरकार की ओर से 'मैं भी भारत' नाम से राज्यसभा टी0वी0 चैनल पर प्रसारित एक सीरीज निकाली गई, जिसमें पूरे भारत देश के विभिन्न आदिवासी समुदाय को दृश्यांकित किया गया। परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या आदिवासियों के विभिन्न समुदायों के महज इतिहासकार और परम्पराओं के कुछ साकारात्मक पहलुओं को रखकर सरकार की जिम्मेदारी खत्म हो जाती है। क्या सरकार को उन आंदोलनकारी आदिवासियों की बात नहीं रखनी चाहिए थी जो प्रकृति और अपने अस्तित्व के लिए आंदोलनरत है ? उनकी संघर्ष महज अपनी घटती जनसंख्या की नहीं अपितु प्रकृति को बचाये रखने का भी है। विकास के नाम पर बढ़ती गई नीतियों के कारण उनके नैतिक मूल्यों, नैतिक अवधारणाओं, जीवनशैली, भाषाओं एवं संस्कृति से भी इनके विस्थापन की प्रक्रिया तेज हो गई है। वर्तमान समय में भारत की जनजातियाँ अपने आर्थिक विकास के लिए प्रयासरत हो रहे तथा रोजगार और शिक्षा को गंभीरता से ले रहे है। इसके तहत उनके लघु उद्योग को भी बढ़ावा मिल रहा है।

इस प्रकार हम देखे तो विभिन्न परिस्थितियाँ आदिवासियों के संघर्ष के लिए उत्तरदायी है, जिसमें विस्थापन, शिक्षा व आर्थिक पहलू उभरकर सामने आता है। हम सब शिक्षित समाज के लोगों को चाहिए कि इन्हें यथोचित सम्मान दे, जिससे वे प्रेरित हो। उदाहरण के तौर पर हाल में ही राष्ट्रपति पद पर आसीन 'द्रोपदी मूर्मू' को देखा जा सकता है, जो एक आदिवासी समाज से निकलकर भारत का नेतृत्व कर रही है। अतः इसमें संशय नहीं की आदिवासी समाज अनेक गुणों, ज्ञान, कौशलों से भरा हुआ है। आवश्यकता है इनको पहचान कर उभारने की। जिससे ये समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सके तथा देश के विकास में योगदान दे सके। प्रत्येक आदिवासी के लिए जगह–जमीन को स्थिर किया जाए ताकि इनकी मूल पहचान बनी रहे। योजना व प्रशिक्षण द्वारा इनको तकनीकी ज्ञान, शिक्षा से जोड़ा जाए ताकि आर्थिक, सामाजिक जीवकोपार्जन को सुगमतापूर्वक निर्वाह कर सके। आज साहित्य व लेखन के माध्यम से आदिवासी समाज धीरे–धीरे समाज की मुख्य धारा से जुड़ रहा है।

सन्दर्भ ग्रंथ :–

1. आदिवासी अस्मिता के प्रश्न : रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 353
2. ग्लोबल गाँव का देवता : रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, इंडस्ट्रियल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या – 92
3. वहीं, पृष्ठ संख्या – 83
4. पिछले पन्ने की औरत, शरद सिंह, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या – 146
5. जंगल जहाँ शुरू होता है, संजीव, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या – 139
6. वहीं, पृष्ठ संख्या – 212